

इकाई की रूपरेखा

- 29.0 उद्देश्य
- 29.1 परिचय
- 29.2 धर्मनिरपेक्षता के लिए भारतीय आवश्यकता का बोध और उसके बारे में बहस
- 29.3 धर्मनिरपेक्षता का पाश्चात्य संदर्भ
- 29.4 भारत में धर्मनिरपेक्षता के लिए आवश्यकता का ऐतिहासिक समाजशास्त्र
 - 29.4.1 ढाँचागत परिवर्तन : आधुनिकीकरण और उसके परिणाम
 - 29.4.2 सामाजिक जीवन के संगठन में परिवर्तन
- 29.5 भारत के लिए धर्मनिरपेक्षता का उचित स्वरूप
 - 29.5.1 सभ्यतामूलक मतभेद
 - 29.5.2 भारत में अव्यवहार्य पाश्चात्य पृथकीकरण
 - 29.5.3 पृथकीकरण का सिद्धान्त : भारतीय संदर्भ में पुनः आकलन की आवश्यकता
 - 29.5.4 पुनः आंकलित समाधान : सैद्धान्तिक दूरी
- 29.6 सारांश
- 29.7 कुछ उपयोगी संदर्भ
- 29.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

29.0 उद्देश्य

इस पाठ में हम निम्न मुद्दों पर चर्चा करेंगे :

- धर्मनिरपेक्षता को समझने का कौन सा तरीका/दृष्टिकोण श्रेयस्कर है?
- धर्मनिरपेक्षता का भारतीय संदर्भ क्या है?
- तनावों पर काबू पाने में परम्परा क्यों असमर्थ हो रही है?
- भारत में धर्मनिरपेक्षता की जड़ें किस प्रकार जम रही हैं?
- क्या धर्मनिरपेक्षता का पाश्चात्य स्वरूप भारत को लागू होता है?
- भारत में संक्रमण (Transition) की क्या कठिनाइयाँ हैं?
- भारत में धर्मनिरपेक्षता का उचित स्वरूप क्या है?
- ऐसा क्यों उचित है?

आशा की जाती है कि इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप उपरोक्त प्रत्येक मुद्दे पर सही उत्तर देने की स्थिति में होंगे।

29.1 परिचय

यदि हम व्यापक विश्व के संदर्भ में धर्मनिरपेक्षता की परिभाषा की तलाश करेंगे, तो सर्वाधिक स्वीकार्य एक परिभाषा इस प्रकार होगी : यह एक सिद्धान्त है जो धर्म के राजनीति से पृथकीकरण के पक्ष में तर्क देता है (इसे भारत में धर्मनिरपेक्षता कहते हैं)। यहाँ प्रमुख शब्द पृथकीकरण है। ऊपरी तौर पर, यह एक सामान्य, आसान सिद्धान्त प्रतीत होता है।

परन्तु इसकी सूक्ष्म जाँच से पता चलेगा कि ऐसा नहीं है। पृथकीकरण के कई जटिल अर्थ हो सकते हैं। यदि हम इसका एक ही अर्थ बनाए रखेंगे तो वह मुश्किल में डाल सकता है। विभिन्न समाजों में इसका अर्थ भिन्न-भिन्न होता है। भारतीय मामले में विषमताएँ अपूर्व हैं। हम यह प्रदर्शित करने की कोशिश करेंगे कि धर्मनिरपेक्षता का भारतीय स्वरूप इस बात पर निर्भर करता है कि पृथकीकरण को किस प्रकार समझें।

29.2 धर्मनिरपेक्षता के लिए भारतीय आवश्यकता का बोध और उसके बारे में बहस

इन्हें समझने के लिए हमें इन प्रश्नों के साथ शुरुआत करनी चाहिए : धर्मनिरपेक्षता के लिए भारतीय आवश्यकता को समझना कितना श्रेयस्कर है और उसके बाद में बहस? यह स्पष्ट है कि धर्मनिरपेक्षवाद विभिन्न ऐतिहासिक संदर्भों में सबसे प्रथम उभरी हुई एक संकल्पना, सिद्धान्त और प्रथाओं के रूप में है नामतः, पश्चिम में। यह मात्र पिछले 100 वर्षों में, इसमें भी 1950 में संविधान को अपनाए जाने से 50 वर्षों में हुआ है कि धर्मनिरपेक्षता भारतीय समाज में विवाद का विषय बन गया है। और पिछले 10-15 वर्षों में, यह गंभीर विवादों और संघर्षों का मामला भी बना है। भारत के मामले में, क्योंकि यह आधुनिक विचारों के विकास के इतिहास और उनके वास्तवीकरण में विलम्ब से शामिल हुआ, हमें दो प्रकार के प्रश्नों पर विचार करना है। ये प्रश्न हैं : हमें धर्मनिरपेक्षता की आवश्यकता क्यों है? भारत के लिए धर्मनिरपेक्षता का सुसंगत स्वरूप क्या हो सकता है? और यह प्रथम प्रश्न महत्वपूर्ण बन गया है, क्योंकि भारत में बौद्धिक और राजनीतिक दोनों प्रकार के सक्रियतावादी लोगों का एक ऐसा वर्ग है, जो यह विश्वास और तर्क करता है कि हम धर्मनिरपेक्षता के बिना भी काम चला सकते हैं।

उनका तर्क इस प्रकार होता है : हमारी परम्पराएँ बहुवादी और लचीली हैं और इस प्रकार वे सहिष्णुता का बेहतर संसाधन हो सकती हैं : यह हमारे निजी इतिहास में हमारा संसाधन है। अतः हमें अपने समाज पर एक विदेशी संकल्पना, धर्मनिरपेक्षवाद को आरोपित करने की आवश्यकता नहीं है। जब हम सभी सहमत हैं कि हमारी परम्पराएँ बहुवादी और लचीली हैं, हमें यह समझने की ज़रूरत है कि यह सोच कि भारत में धर्मनिरपेक्षता की आवश्यकता नहीं है, अति त्रुटिपूर्ण है क्योंकि ये बहुवादी परम्पराएँ विद्यमान परिस्थितियों में लोकतंत्र को स्थायित्व प्रदान नहीं कर सकती हैं।

29.3 धर्मनिरपेक्षता का पाश्चात्य संदर्भ

उपरोक्त दो प्रश्नों का उत्तर देने के लिए यह महत्वपूर्ण है कि धर्मनिरपेक्षता अथवा पाश्चात्य संदर्भ के मूल पर विचार किया जाए। इस तरीके से हमारे सामने ऐतिहासिक मतभेदों की एक तस्वीर उभरकर आएगी, जिससे इन प्रश्नों के संभावित उत्तर दिए जा सकते हैं। यूरोप के इतिहास में अनेक वस्तुएँ अथवा परिस्थितियाँ हैं जिनमें से बोधगम्यता के दो सिद्धान्त धर्मनिरपेक्ष विचार के सम्बन्ध में उभरते हैं। यूरोप ने मध्यकालीन युगों और 17वीं शताब्दी के मध्य तक रोमन कैथोलिक गिरजाघर और तत्कालीन राज्यों (संस्था के रूप में राज्य) के बीच सर्वोच्चता के लिए एक प्रमुख संघर्ष देखा। इन उच्चस्तरीय संगठित और शक्तिशाली दोनों प्रकार की, दो प्रमुख संस्थाओं के बीच सर्वोच्चता के लिए संघर्ष, गिरजाघर बनाम राज्य विवाद के रूप में जाना गया है। तब, प्रतिवादी मत (Protestantism) के उत्थान (रोमन कैथोलिक के पोप के विरुद्ध उपदेश करने वाले लूथर और कैल्विन के साथ) के समय 16वीं शताब्दी के मध्य से रोमन कैथोलिक गिरजाघर और प्रोटेस्टेंट मत के बीच असहिष्णु विवाद की स्थिति पैदा हुई। यह विवाद आगे चलकर 17वीं शताब्दी के प्रारंभ में

दोनों के बीच एक प्रमुख युद्ध में बदल गया जो 30 वर्षों के लम्बे समय तक चलता रहा जिसमें यूरोप भर में करोड़ों लोगों की हत्या तथा अपंगता हुई। इसे 30 वर्ष वाले युद्ध अथवा कट्टरपंथी युद्ध के नाम से जाना गया। यह युद्ध वेस्टफेलिया की संधि के साथ समाप्त हुआ, जो दो युद्धरत गुप्तों के बीच 'आरजी समझौते' (ऐसा करार जिस पर संघर्षरत दलों के हित पूरे हो सकें) के बाद हो पाई थी। यह आरजी समझौता (Modus Vivandi) धीरे-धीरे आगे चलकर राजनीतिक व्यवस्था के एक सिद्धांत (हाब्स, डेस्कर्टस, लॉक एट अल के लेखन को पढ़ें) में बदल गया और इसका राजनीतिक वर्ग में प्रसार किया गया। धर्मनिरपेक्षवाद एक ऐसा सिद्धांत बना जो राज्य और गिरजाघर के बीच पृथकीकरण की स्पष्ट व्यवस्था देता है।

दूसरी महत्वपूर्ण बात धर्म का व्यक्तिगत मामले में परिवर्तन था जो उस समय पृथकीकरण सिद्धांत के प्रवर्तन में व्याप्त रहा। प्रोटेस्टेंट आन्दोलन के बीच, कई गिरजाघर उभर रहे थे जिनके अपने विशिष्ट सिद्धांत तथा प्रबल अवधारणाएँ थी। यह स्वीकार किया गया कि कोई भी इस बात पर आपत्ति नहीं करेगा कि विशेष व्यक्ति किस गिरजाघर से सम्बन्ध रखता है। विश्वास किसी की अन्तरात्मा का मामला था जो व्यष्टि का कुछ सीमा तक व्यक्तिगत तथा निजी मामला था। (स्वगत as an aside) के रूप में, अन्तरात्मा के मामले में दखलन्दाजी न करना इस प्रकार अधिकारों के सिद्धांत की एक बुनियाद बन गया, दूसरी बुनियाद सम्पत्ति की अलंघ्यता बनी। एक व्यक्ति विशेष के निजी मामले के रूप में अन्तरात्मा के सिद्धांत के साथ एक तरफ गिरजाघर/धर्म तथा दूसरी तरफ राज्य/राजनीति को रखने का सिद्धांत एक मत के रूप में धर्मनिरपेक्षता के उदय का आधार बना। दूसरे शब्दों में, धर्म को सार्वजनिक कार्यों और नीति निर्माण से अलग रखना था जो राजनीति और राज्य का अनन्य क्षेत्र था।

यह सुस्पष्ट है कि कोई भी पाश्चात्य अनुभव से कोई प्रत्यक्ष अनुभव नहीं ले सकता, क्योंकि भारत में कभी भी कोई गिरजाघर अथवा शक्तिशाली संघटित राज्य नहीं था। मौर्य अथवा मुगल साम्राज्य विषयांतरक (episodic) थे; अर्थात् ऐसी अवस्था सतत मौजूद नहीं थी। इस प्रकार, गिरजाघर और राज्य के बीच टकराव का विचार भारतीय सभ्यता के लिए विदेशी है। हमारे संदर्भ और ऐतिहासिक सम्पदा बहुत भिन्न हैं। इसीलिए धर्मनिरपेक्षता की आवश्यकता और उसका मार्ग अवश्यमेव भिन्न होगा। परन्तु अन्तरात्मा के सिद्धांत के महत्त्व का, यद्यपि भिन्न तरीके से, इनकार नहीं किया जा सकता है।

बोध प्रश्न 1

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

1) धर्मनिरपेक्षता के सम्बन्ध में, पश्चिम के ऐतिहासिक संदर्भ की दृष्टि से क्या विशिष्ट है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) यह संदर्भ भारत के लिए क्या सुझाव देता है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

29.4 भारत में धर्मनिरपेक्षता के लिए आवश्यकता का ऐतिहासिक समाजशास्त्र

हमारा धर्मनिरपेक्षवाद प्रमुखतः दो बुराइयों के विरुद्ध निर्देशित है; प्रथम, विभिन्न धार्मिक समुदायों के बीच धार्मिक टकराव और उसका अतिरेक स्वरूप जैसे साम्प्रदायिक हिंसा और दंगे, और दूसरे, राज्य पर अधिभावी धार्मिक समुदायों का खतरा जिनमें से प्रत्येक के पास 'बेहतर जीवन' का अपनी निजी दृष्टिकोण होता है, जो दूसरों के लिए भी वैध हो। दोनों 18वीं शताब्दी के दूसरे अर्द्धशतक में एक समस्या के रूप में उभरे। कभी-कभी ये गैर अनुपाती रूप से महत्त्वपूर्ण बने तथा अन्य समय पर, महत्त्वहीन रह गए। परन्तु अन्तिम 20 वर्षों में, इन दोनों प्रवृत्तियों में चिन्ताजनक वृद्धि हुई है, जिससे भारतीय समाज के महत्त्वपूर्ण रेशे को भी खतरा पैदा हो गया है। ऐसा क्यों हुआ? इसका उत्तर हमें भारत में धर्मनिरपेक्षता की आवश्यकता क्यों हुई के ऐतिहासिक समाजशास्त्र के विषय में बतायेगा। इस कहानी पर कुछ विस्तार से चर्चा करना ठीक रहेगा।

भारत के उपनिवेशी शासन के अधीन आने के बाद, भारतीय समाज में परस्पर सूक्ष्मता से जुड़े हुए दो परिवर्तन हुए। एक ढाँचागत परिवर्तनों के स्वरूप से संबंधित था तथा दूसरा, हमारे संगठित सामाजिक जीवन से जुड़ा हुआ था। दोनों के दूरगामी परिणाम थे।

29.4.1 ढाँचागत परिवर्तन : आधुनिकीकरण और उसके परिणाम

पहले आधुनिकीकरण पर चर्चा करें यथा नागरिक सम्पत्ति, व्यापक व्यापार, उद्योग, शहरी जीवन, पूँजी संचयन, आधुनिक (अधार्मिक) शिक्षा आदि। उपनिवेशी आधुनिकीकरण अत्यधिक शोषणकारी था जिससे क्षेत्रों और समुदायों के बीच असमान विभाजन हुआ, तथापि, इसके कारण विभिन्न भागों में व्यवसायों/रीति-रिवाजों के संहिताकरण और उनके अनुप्रयोग से देश का आर्थिक समेकन, समान प्रशासनिक नियंत्रण हुआ तथा सांस्कृतिक सद्भाव में वृद्धि हुई। इसके कुछ महत्त्वपूर्ण परिणाम निकले। इससे भारत तथा भूमण्डलीय ढाँचागत स्थितियों में अधिकाधिक समानता आ रही थी। इससे व्यष्टीयन की प्रक्रिया आरंभ हुई, अर्थात् समुदायों के भीतर व्यक्ति शनैःशनैः व्यष्टि बनते जा रहे हैं (जैसा कि हमारे पाश्चात्य समाजों में है)। ये दोनों विकास साथ-साथ मिलकर नई मानसिक क्षमताओं का आधार बने। एक उदाहरण लें, विश्व में किसी जगह से विचारों की सापेक्षता प्रकट हुई। हम सभी इस बात से अवगत हैं कि व्यक्ति की समानता, अधिकारों और प्रतिष्ठा आदि के विचारों ने भारत में लोगों के अधिकार को किस प्रकार उतना ही पोषण किया, जैसा कि विश्व में किसी अन्य जगह पर वे दूसरों के प्रति हैं। ऐसा हमारे सामाजिक जीवन में समाचार पत्रों, पत्रिकाओं और पुस्तकों के मुद्रण का विकास, उनका बढ़ता हुआ महत्त्व और

उनकी लोकप्रियता से देखा जा सकता है। मुद्दे उठते हैं और उन पर गर्मागर्म बहस होती है। चर्चाओं का विस्तार मात्र प्रतिष्ठित व्यक्तियों के स्तर तक ही नहीं है, अपितु विभिन्न लोकप्रिय स्तरों पर भी है। कोई भी विचारों को विदेशी अथवा भारतीय मूल के आधार पर विभक्त नहीं करता। वे इन विचारों पर नए, हितकारी और भारतीय समाज के लिए सुसंगत होने के कारण बहस करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैसे प्रत्येक आदमी एक-दूसरे से उत्तेजना में बातें कर रहा है।

दूसरे, इसके परिणामस्वरूप एक बड़ी संख्या में व्यक्ति जो पहले कर्मकांडी स्थिति और धार्मिक विश्वासों के समुदायों के भीतर आबद्ध थे, इन बंधनों को छोड़ते जा रहे हैं। यही कारण है जिससे हम कहते हैं कि नए प्रकार के लोगों अर्थात् जन समुदायों का सृजन हुआ था। इससे कई उलझने सामने आईं। जन समुदाय लोगों का मात्र अभेदीकृत (undifferentiated) समूह नहीं था। इसके विभिन्न ढाँचागत स्वरूप प्रकट हुए, जैसे नए वर्गों का गठन, नामतः, पूँजीवादी और कार्यकर्ता, आधुनिक ज़मींदार और किसान तथा भूमिहीन कृषिक श्रमिक, पेशेवर ग्रुप जैसे वकील, लेखाकार और डॉक्टर आदि। इसके भारतीय जीवन में सामाजिक रचना पर चिरस्थायी प्रभाव पड़े हैं। ऐसा नहीं है कि पुरानी शैली के आधुनिकता से पहले के समुदाय, जैसे जातियाँ अथवा छोटे-छोटे धार्मिक ग्रुप अस्तित्व में नहीं रहे, अपितु उनके आंतरिक स्वरूप में अत्यधिक परिवर्तन आ गया। ये आय और निपुणता के आधार पर विभेदीकृत हुए, जैसा पहले नहीं था। इन समुदायों में, जो एक-दूसरे को धकियाते थे, नए हित उभरे। पहले समुदाय बिना किसी प्रतिस्पर्धा के अगल-बगल में रहते थे और उसी स्थिति में जिसमें वे रहते थे, अपनी स्थानीय स्वायत्तता का पूर्ण आनन्द लेते थे। वह स्थानीय स्वायत्तता शिथिल होने लगी और आज यह गायब हो गई है।

29.4.2 सामाजिक जीवन के संगठन में परिवर्तन

सामुदायिक सीमाओं को बड़े पैमाने पर पुनः खींचने के प्रयास तथा आधुनिक विश्व के दृष्टिगोचर विध्वंस का मुकाबला करने के लिए उनमें एकता बनाने तथा उसी प्रक्रिया में समुदायों के लिए लाभ अर्जित करने के प्रयास भी किए गए। आधुनिकता का विरोध और अपने हितों/लाभ के लिए सौदेबाजी करना, विरोधात्मक रूप से, एक ही सिक्के के दो पहलू थे और हैं। इन परिवर्तनों का परिणाम समाज में और अधिक शिथिलतापूर्ण विविधता नहीं थी, यह स्वयमेव आंशिक प्रतिक्रिया के साथ जीवित था। अब इसने अपने एकमात्र विकल्प के रूप में आधुनिकता को मुकाबले पर पाया। इस ख़तरे पर काबू पाने और स्वयं की रक्षा के लिए, अनेकानेक समुदायों जिनमें से प्रत्येक अलग-अलग तरीकों से विशाल परम्पराओं से जुड़ा हुआ था, ने भी सामाजिक हित के लिए विभिन्न विचार प्रस्तुत किए। अच्छाई की इन धारणाओं में से प्रत्येक धारणा एक-दूसरे की प्रतिद्वन्दी ही नहीं, अपितु अच्छाई की संकल्पना आधुनिकता में भी सन्निहित थी और जिसका उपनिवेशी लूट-खसोट द्वारा विध्वंस कर दिया गया था।

अनेक समुदायों जिनमें से प्रत्येक न्यूनतम अन्तःक्रियाओं के साथ रहता था, का खुशहाल सहअस्तित्व यद्यपि मित्रवत् समझ के कारण था, आगे बना रह सकता था, निश्चित नहीं था (जैसा कि आदिकाल में था)। यह लोगों की वंशानुगत क्षमताओं, जिनसे वे अन्तर-व्यक्ति, अन्तर-समुदाय और अन्तःसमुदाय सम्बन्धों को बनाए रखते थे, पर अत्यधिक दबाव का कारण था। यह नई सामाजिक व्यवस्था में सत्ता में साझेदारी के लिए संघर्ष के साथ-साथ उपनिवेशी अर्थव्यवस्था जो उस समय मूर्त रूप में थी, की स्थापना और प्रशासन द्वारा उत्पन्न नई प्रतिस्पर्धा के अलावा घटित हुआ। इस स्थिति के लिए विभिन्न स्थितियों वाले विश्वों के बीच मतों और विचारों के विनिमय तथा अपसृत हितों और अच्छाई के विविध विचारों के अधिनिर्णयन के लिए अन्तर्वादियों (interlocutors) की आवश्यकता थी। सफल

मध्यस्थता के लिए या तो अनेक समुदायों से बाहर रह रहे लोगों की अथवा उनकी आवश्यकता थी, जो इन समुदायों जिनमें से प्रत्येक अधिकाधिक एकीकृत तथा स्वाग्रही हो रहा था, की सीमा से परे सोच सके। पुरानी शैली का वार्तालाप जो स्थानीय स्वायत्ता का उपभोग करने वाले आसन्न समुदायों के बीच हुआ करता था, लोगों के बीच कायम नहीं था। लोग एक-दूसरे से अधिकाधिक दूर होते जा रहे थे और वस्तुओं की उस विश्व से माँग कर रहे थे जो पुरानी शैली के संव्यवहारों से अपरिचित था। यह सब परम्परागत रूप से स्वतःनिर्मित संसाधनों, जिनमें सहिष्णुता और पारस्परिक संरक्षण के उपाय शामिल हैं, के बीच खाई खोदने के लिए था। इन भिन्न-भिन्न स्थिति वाले विश्वों का प्रतिनिधित्व करने के लिए दावा करने वाले उनके द्वारा किए गए करार अथवा उपलब्ध ज्ञान हमेशा नाजुक और अस्थायी सिद्ध हुए। दूसरे शब्दों में, अन्तर्वादियों के प्रयासों से वार्तालाप द्वारा हुए सौदे, विशेष रूप से सामाजिक संक्रमण की स्थितियों में, अन्तिम (provisional) स्वरूप वाले होते हैं।

यह ऐसी स्थिति है, जिसमें आसन्न (adjacent) समुदायों के बीच पुरानी शैली का वार्तालाप सफल नहीं होता और अन्तर्वादी अपेक्षित कार्य के लिए विषम हो जाते हैं। अतः, अच्छाई के इन सभी साम्प्रदायिक आधार वाले स्पर्धात्मक विचारों से कुछ अन्यथा अपेक्षित था, उसी समय अच्छाई एवं हितों की स्पर्धात्मक धारणा की मौजूदगी में मध्यस्थता करने के लिए एक मूल्य और व्यवस्था की भी आवश्यकता थी। इस स्थिति के अन्तःस्थित दबावों ने उस आवश्यकता को बढ़ावा दिया, जिसे अब 'शासन के धर्मनिरपेक्ष सिद्धांत' (secular doctrine of governance) के रूप में जाना जाता है। इसकी सबसे अलग इसलिए अपेक्षा थी, ताकि सार्वजनिक जीवन में कार्य करने के लिए इस तरह से स्थिति की तलाश की जाए जिससे अच्छाई की, स्पर्धात्मक और प्रायः असमाधेय (irreconcilable), धारणाएँ लोगों के मध्य सार्वजनिक अन्तरक्रियाओं की प्रत्येक स्थिति को निष्प्रभावी न कर पाएँ। धर्मनिरपेक्ष होने का कुछ तरीका, अच्छाई की इन स्पर्धात्मक धारणाओं से कुछ इतर तथा दूर पर रहने का सिद्धांत समाज के कई महत्वपूर्ण चौराहों पर मूर्त्तिमान बदलावों के भीतर उत्पन्न एक आवश्यकता थी। इसीलिए कोई भी तर्क दे सकता है कि 'धर्म निरपेक्षवाद' का सिद्धांत एक आन्तरिक रूप से प्रवर्तित उभराव है और इस प्रकार हमारी रुचियों की ओर ध्यान दिए बिना अपनी मौजूदगी का अहसास कराता है।

अब यह सुस्पष्ट है कि धर्मनिरपेक्षवाद की आवश्यकता आन्तरिक सामाजिक रिश्तों और मूलभूत स्वरूप में बदलावों के भीतर और बाहर उद्भूत हुई। यदि एक नए सिद्धांत अथवा मूल्य, अवधारणा चाहे यह धर्म निरपेक्षता हो अथवा अधिकार हों अथवा समानता हो अथवा कुछ भी हो, की आवश्यकता एक समाज के भीतर उद्भूत होती है, तब यह स्पष्ट होना चाहिए कि धारणा अथवा सिद्धांत न तो विदेशी है और न इसे एक अधिरोपण (imposition) के रूप में लिया जा सकता है (जैसा कि नन्दी और मदान तथा चटर्जी सोचते हैं)। एक विश्व में जो ऊपर उल्लिखित प्रक्रियाओं के कारण अधिकाधिक समान होता जा रहा है, कतिपय सिद्धांत अथवा मूल्य और धारणाएँ जिनके माध्यम से इनकी अभिव्यक्ति होती है, हमारे जैसे समाजों में अपनी जड़ जमाने के लिए प्रवृत्त होते हैं। यह उनकी आन्तरिक आवश्यकताओं के कारण हैं, चाहे वे पश्चिम में मौलिक रूप से विद्यमान हों।

बोध प्रश्न 2

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

1) भारत में धर्मनिरपेक्षवाद की आवश्यकता के ऐतिहासिक समाजशास्त्र की विवेचना करें।

29.5 भारत के लिए धर्मनिरपेक्षता का उचित स्वरूप

ऐसा मामला होते हुए, हमें यह भी स्पष्ट होना चाहिए कि हम एक निश्चित (settled) समाज नहीं हैं, जैसे फ्रांस अथवा जर्मनी; हम संक्रमण स्थिति में हैं और इसीलिए, इसका अर्थ है कि हमें किस प्रकार का धर्म निरपेक्षवाद चाहिए, इस चरण के विशिष्ट लक्षणों द्वारा ही निर्देशित होगा। यहाँ पुराने समाज की सामाजिक संरचना, विश्वास और मानदण्ड, यद्यपि अभी भी मौजूद हैं, तीव्रता से बदल रहे हैं अथवा नए लक्षणों को मार्ग दे रहे हैं। हम दो उदाहरण लेते हैं। हमारी वैवाहिक व्यवस्था में, सजातीय विवाहों का क्षेत्र तेजी से बढ़ रहा है और कई मामलों में पसन्द का घटक शनैः-शनैः प्रवेश कर रहा है। लोग पूरी तरह पुराने, धार्मिक रीति-रिवाजों अथवा कर्मकाण्डों से अधिक समय तक विनियंत्रित नहीं होना चाहते। वे जो कुछ इच्छा करते हैं, उसके लिए संरक्षण चाहते हैं। एक अन्य उदाहरण में, हम अपनी जाति की पंचायतों के निर्णयों से और अधिक शासित नहीं होना चाहते। बजाए इसके हम निर्वाचित पंचायत को प्राथमिकता देते हैं। लोग जाति अथवा कर्मकाण्डी प्रास्थिति से अविभूत नहीं होना चाहते हैं, जैसा पुरानी जाति पंचायत के कार्यचालन में संभव है।

यदि हम इन दोनों और ऐसी अन्य बातों को दिमाग में रखते हैं (हम कई और अधिक के बारे में सोच सकते हैं), यह स्पष्ट हो जाता है कि ये वे परिस्थितियाँ हैं जहाँ अनेक प्रकार के नए संघर्ष और सामाजिक माँगें उभरती हैं। मैं यहाँ इस बात पर बल देना चाहता हूँ कि संक्रमण की सभी स्थितियाँ वे स्थितियाँ भी हैं। जहाँ नए संघर्ष प्रचुर हैं और ये संघर्ष नए और पुराने अथवा इनके द्वारा उत्पन्न विवादों और अनिश्चितताओं के बीच हैं। परम्परागत धारणाओं पर आधारित कार्य करने, संघर्षों का समाधान करने के पुराने तरीके आज ऐसा नहीं कर पाएँगे, क्योंकि वे अपर्याप्त और असंगत हो चुके हैं और वे एक-दूसरे से आसन्न रहने वाले स्थानीय समुदायों के बीच छोटे और बार-बार होने वाले संघर्षों का समाधान करने के लिए अभिप्रेत थे। आधुनिक राजनीति में विशाल पैमाने पर इनका प्रयोग आसान नहीं है। अब, हमेशा बदलने वाले स्वरूप के संघर्षों के लिए मात्र सिद्धांत अथवा साधन कभी भी पर्याप्त नहीं होते। धार्मिक और प्रजातीय समुदायों के बीच तथा इन समुदायों के भीतर विरोधियों के बीच हमेशा बदलने वाली नई संघर्ष स्थितियों से निपटने के लिए नीतियों और पहलवाजियों से रचनात्मक कार्य की आवश्यकता है। अपने निजी समुदायों के विरुद्ध अन्तिम उपाय स्थिति को संभाल सकता है।

इस प्रकार की परिवर्तनीय संघर्षमयी साम्प्रदायिक समीकरणों वाली स्थिति के तहत, धर्मनिरपेक्षवाद के सतर्क और लचीले अनुप्रयोग की आवश्यकता है। यह इस अर्थ में रामबाण उपचार नहीं है कि यह सामाजिक और आर्थिक नीतियों की संवेदनशील सोच और प्रशासनिक उपायों के बिना कुछ नहीं कर सकता। परन्तु इसका कोई अन्य प्रतिस्थानी विकल्प नहीं है, जैसा हमने परम्पराओं और रीति-रिवाजों के मामले में, इन स्थितियों में कार्य करने के सिद्धांत से देखा है। इसीलिए हम कह सकते हैं कि यह एक उतनी मुश्किल

स्थिति नहीं है, जिसे असंभव सिद्धांत का नाम दिया जाए अथवा यह कि भारत में धर्म निरपेक्ष समाज की स्थापना नहीं हो सकती। [जैसा कि कुछ लेखकों ने दावा किया है] यदि हमें “कठिन” और “असंभव” के बीच विशिष्ट अन्तर को दिमागी तौर पर करते हैं, तब हम बेहतर समझ सकते हैं कि धर्मनिरपेक्षता भारत में अपने अनुप्रयोग के लिए अवरोधों को झेलते हुए टेढ़े-मेढ़े रास्ते से गुज़र रही है।

बोध प्रश्न 3

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

1) क्या धर्मनिरपेक्षता भारतीय समाज पर एक अधिरोपण है?

.....
.....
.....
.....
.....
.....

2) भारत में धर्मनिरपेक्षता के लिए कठिनाइयों के मुख्य कारण क्या हैं?

.....
.....
.....
.....
.....
.....

यहाँ तक आने के बाद प्रश्न उठता है : भारत के लिए धर्मनिरपेक्षता का क्या अर्थ है? दूसरे शब्दों में, हमारे लिए इसका उचित स्वरूप क्या है? यह महत्वपूर्ण है, क्योंकि हमने इस पाठ के आरंभ में देखा है कि पश्चिम में, धर्मनिरपेक्षवाद गिरजाघर के राज्य से स्पष्ट पृथकीकरण के अभिप्राय के रूप में आया। इस प्रकार इसका अर्थ है कि धर्म को राजनीति से कुछ लेना देना नहीं है। अपने मान्यताप्राप्त क्षेत्रों में वे एक-दूसरे से निर्देश के बिना कार्य करते हैं। अमेरिका में, इसे ‘पृथकीकरण की दीवार’ का नाम दिया गया। अब इसे पश्चिम में धर्मनिरपेक्षता के सार्वभौमिक प्रतिदर्श के रूप में आमतौर पर देखा जाता है (अर्थात्, डोनाल्ड स्मिथ का भारत के ऊपर किया कार्य, इस विषय पर प्रथम सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य है)। क्या धर्मनिरपेक्षता का यह स्वरूप भारत के लिए उचित प्रतिदर्श होगा?

29.5.1 सभ्यतामूलक मतभेद

इसे समझने की कोशिश में हमें कुछ बातें अपने ध्यान में रखनी चाहिए। एक, कोई दो समुदाय अथवा सभ्यताएँ (विभिन्न धर्मों द्वारा आधुनिक समय से पहले के काल में प्रायः

सूचित) समान नहीं हैं। आधुनिक भारत में सभ्यता उस सभ्यता से बहुत भिन्न है, जो यह पश्चिम में है अथवा जो यह उस समय थी जब धर्मनिरपेक्षता धर्म के रूप में उभरी। हम पहले ही देख चुके हैं कि भारत में कभी संगठित गिरजाघर नहीं था अथवा उसके जैसा कुछ नहीं था। परन्तु इससे अधिक भारत में है, जो इसे अद्वितीय एवं एकदम भिन्न, सुई जेनरिस (sui generis) बनाता है। हम इस पर संक्षेप में विचार करते हैं, क्योंकि यह इस बात को प्रभावित करेगा कि हम धर्मनिरपेक्षता को किस रूप में मानते हैं। हिन्दू धर्म में धर्म का सीमांकन अथवा इसे विशिष्ट धर्म के रूप में सामाजिक रूप से किसने मान्यता दी, कभी निश्चित सिद्धांत अथवा व्यादेशित विश्वास (enjoined belief) नहीं रहा है। यद्यपि कुछ अधिक प्रबल विश्वास समान रूप से मौजूद हैं जैसे कर्म, मोक्ष अथवा वर्ण। वर्ण अथवा जाति रैंक के शब्दों में विभिन्न प्रकार से सदस्यों के ऊपर व्यादेशित कर्मकाण्डी रूप से निर्धारित प्रथाएँ हिन्दू धर्म को विशिष्ट मान्यता प्रदान करने का कारण थीं। ये प्रथाएँ सामाजिक संरचना में गहरे तक फँसी हुई थीं और उनकी मात्र उपस्थिति से ही विशिष्ट सामाजिक स्वरूप का पता चलता था। हम विस्तार में इस पर चर्चा नहीं करेंगे, परन्तु कुछ ऐसी बातों पर विचार करेंगे जो इस चर्चा के मुद्दे से प्रत्यक्ष रूप से सुसंगत हैं। शुद्धता और प्रदूषण, अस्पृश्यता, जाति के संदर्भ में मानव प्राणियों के बीच सामाजिक दूरी का विनियमन, मन्दिर में प्रवेश का अधिकार अथवा कुँ से पानी खींचना और कई अन्य इसी प्रकार की धारणाएँ धार्मिक ग्रंथों पर आधारित हैं अथवा ऐसा विश्वास किया जाता है। ये व्यापक रूप से भारत में प्रचलित थीं और विद्यमान समय में काफी सीमा तक गायब हो चुकी हैं। हम आज भी प्रपीड़न के समाचार पढ़ते हैं, जिसे इन कर्मकाण्डी नियमों को तोड़ने के लिए निम्न जाति के लोगों पर अथवा उन औरतों पर किया जाता है, जो परम्परा द्वारा निर्धारित सीमाओं से आगे बढ़ती हैं।

29.5.2 भारत में अव्यवहार्य है पाश्चात्य पृथकीकरण

इन लक्षणों वाला 'पृथकीकरण' जो पश्चिम में प्रचलित था, सामान्यतः भारत में संभव नहीं होगा; अपितु असंभव होगा। लोकतंत्र को वास्तविक रूप देने के लिए, संस्थागत पृथकीकरण का प्रत्येक चरण कतिपय नियामक प्रतिष्ठानों, मूल्यों जो पृथकीकरण को महत्वपूर्ण बनाते हैं, द्वारा अनुप्राणित करना होगा। भारत व्यष्टियों के बीच समानता सुनिश्चित करना चाहता है और ऐसे हालात पैदा करना चाहता है, जो व्यक्ति की प्रतिष्ठा को अभिनिश्चित करें। कई अन्य बातों के साथ ये सर्वोपरि हैं जिनके बारे में संविधान चर्चा करता है। अब इस पर विचार करें। दलितों का मन्दिरों अथवा गाँवों के कुँओं से बहिष्कार गुणात्मक रूप से उस प्रकार का नहीं है, जैसे अमेरिका में समान कारणों के लिए काले लोगों के साथ किया जाता है। हमारे मामले में यह शास्त्रसम्मत अथवा धार्मिक मान्यता प्राप्त है। अमेरिका में काले लोगों के साथ ऐसा/स्थिति नहीं है। यदि अमेरिकी राज्य इन प्रथाओं को कानून से बाहर रखने का विधान करता है, तब यह धर्म में दखलन्दाजी का मामला नहीं रह जाता, जबकि भारत में जब राज्य अस्पृश्यता की ऐसी पृथाओं को कानून से बाहर रखने अथवा महिलाओं की हैसियत को बढ़ाने का विधान करता है, कई आदमी विश्वास करते हैं और ऐसा उनका दृढ़ विश्वास है कि राज्य धार्मिक मामलों में दखल दे रहा है। हिन्दू धर्म के कानूनों और अन्य समुदायों के कानूनों में कई सुधारों पर इस तरीके से विचार किया गया है।

इनमें कई प्रथाएँ भारतीय संविधान की उन नियामक अपेक्षाओं के प्रतिकूल हैं कि प्रत्येक भारतीय, जाति, धर्म और लिंग की ओर ध्यान दिए बिना, समान माना जाएगा और सभी व्यक्तियों की प्रतिष्ठा सुनिश्चित की जाएगी। यह उद्देश्य धर्म का अंग मानी जाने वाली कई प्रथाओं को कानून द्वारा अवैध ठहराए बिना सुनिश्चित और अथवा प्राप्त नहीं किया जा सकता। राज्य और गिरजाघर अथवा राजनीति और धर्म के बीच "पृथकीकरण की दीवार"

जैसा कि अमेरिकी संविधान में है, विवादित नहीं है। यह सामान्यतः भारत के मामले में व्यवहार्य नहीं है। यही कारण है कि हम इसे असंभव आदर्श मानते हैं। कई लोग भारत के लिए धर्मनिरपेक्षता को असंभव मानते हैं, क्योंकि वे भारतीय धर्मनिरपेक्षवाद पर प्रथम महत्त्वपूर्ण टीकाकार डॉनेल्ड स्मिथ के साथ-साथ धर्म निरपेक्षता की इस धारणा के साथ निर्विवाद रूप से कार्य करते हैं।

29.5.3 पृथकीकरण का सिद्धान्त : भारतीय संदर्भ में पुनः आकलन की आवश्यकता

यह मान लेना अब असंभव है कि तटस्थ सिद्धांतों के आधार पर दृढ़ता से विनियमित कुछ व्यवधान आवश्यक हैं, तब हम कह सकते हैं कि भारत में धर्म निरपेक्ष राज्य के आधार के रूप में पृथकीकरण पश्चिमी सिद्धांत का पुनः आकलित रूप होना चाहिए। पश्चिमी धारणाओं को आलोचना किए बिना लागू करना संभव नहीं होगा। विभिन्न स्थितियाँ, अपनी विशिष्ट कठिनाइयों के साथ, रचनात्मक अनुप्रयोग की माँग करती हैं। पाश्चात्य-सिद्धांतों की अंधी स्वीकृति अथवा जाँच किए गए प्रतिदर्शों और प्रथाओं को सामान्य रूप से नकारना इसका उत्तर नहीं है।

हमारे सामने एक कठिन स्थिति है। हमें अभिनिश्चित करना है कि संविधान के कई मूल्यों जिनका हम सभी पोषण करते हैं, को अपने वास्तविक जीवन में वास्तविक रूप देना पड़ेगा। दूसरे, लोकतंत्र अपेक्षा करता है कि हम सभी नागरिक बनें क्योंकि नागरिकता के बिना लोकतंत्र प्राप्य नहीं है। अतः हम उन मामलों में दखलन्दाजी चाहते हैं जिन्हें, हमारे संदर्भ में, धार्मिक माना जाता है। परन्तु, दूसरी तरफ हम कुछ स्वरूप अथवा अवस्था में पृथकीकरण की अपेक्षा करते हैं, क्योंकि नागरिकता एक धर्मनिरपेक्षता आदर्श के कुछ स्वरूप के बिना प्राप्य नहीं है। नागरिकता अपने तौर पर न्यूनतम दो शर्तों की माँग करती है; नामतः अभिनिश्चित और चहुतरफा अधिकारों वाले लोग तथा इस प्रकार के व्यक्तियों को किसी विशेष समुदाय के धार्मिक मूल्यों से स्वतंत्र तौर पर परिभाषित किया जाए। व्यष्टि के धर्म से स्वतंत्र मूल्य को निरूपण करने का विचार एक धर्मनिरपेक्ष आदर्श है और भारतीय संदर्भ में इसका अत्यधिक महत्त्व है। मानव से अन्यथा व्यष्टि के मूल्य का निरूपण करने में कोई अन्य प्रतिफल लोकतंत्र के लिए अहितकारी है। हमारी प्रतिष्ठा और योग्यता सामान्यतः इसीलिए है, क्योंकि हम मानव हैं न कि इसलिए कि हम मानव और हिन्दू अथवा मुस्लिम अथवा ईसाई अथवा सिख हैं। यह सच हो सकता है कि हममें से बहुत अधिकांश अर्थ अपने धर्मों से निकालते हैं, क्योंकि वह हमारे जीवन को 'बेहतर' बनाने की व्यवस्था करता है। धर्मनिरपेक्षवाद एक शुष्क सिद्धांत है, यह उत्कृष्ट अर्थ के लिए अभिप्रेत नहीं है। शुष्क सिद्धांत होने के कारण यह समुद्रपारीय देशों के लिए है, जो इनके अधिक उत्कृष्ट अर्थ के लिए संघर्ष करते हैं तथा विश्वास सार्वजनिक विवाद के मामले नहीं होते और यह कि वे राज्य कार्य के किसी भी स्तर पर राजनीतिक जीवन और नीति-निर्माण से अलग रहते हैं।

भारतीय स्थिति में, राजनीति और धर्म अजनबियों की तरह एक-दूसरे के आमने-सामने होने चाहिए, न कि अमेरिका की तरह जहाँ एक 'दीवार' के माध्यम से, जो उनके बीच में खड़ी होती है, एक-दूसरे को देखने पर रोक लगा दी जाती है। अपनी मुलाकात का हवाला देकर अजनबी एक-दूसरे के साथ बराबरी का अथवा बराबरी जैसा व्यवहार करते हैं। परन्तु अजनबी होने के नाते, उनके बीच घनिष्टता नहीं हो पाती। भारत में धर्मनिरपेक्षता की माँग है कि दो के बीच घनिष्टता न हो, क्योंकि यह साम्प्रदायिक राजनीति में होती है – भले ही संघ परिवार के प्रतिनिधित्व वाला हिन्दुत्व हो अथवा मुस्लिम लीग अथवा अकाली दल आदि। धार्मिक ग्रुप जितना व्यापक और विशालता में फैले होंगे, देश की एकता को उतना

ही अधिक खतरा होगा। इस परिप्रेक्ष्य में जो हमें धार्मिक टकरावों के हमारे निजी इतिहास से हमें प्राप्त हुआ है, हमें भारत में साम्प्रदायिक बलों के ख़तरे पर चर्चा करनी चाहिए। धर्मनिरपेक्षता की आवश्यकता निर्णायक है, यदि हम अपना प्रत्येक दिन सभ्य तरीके से गुज़ारना चाहते हैं। और जिन्दगी का प्रत्येक दिन महत्त्वपूर्ण है।

29.5.4 पुनः आकलित समाधान : सैद्धान्तिक दूरी

हम राजीव भार्गव से सहमत होते हुए यह कहकर अब इस चर्चा को संक्षिप्तीकरण करते हैं कि धर्मनिरपेक्षता के भारतीय स्वरूप में, पृथकीकरण का सिद्धांत धर्म और राजनीति के बीच एक सैद्धान्तिक दूरी के रूप में समझना होगा। यहाँ सिद्धांततः दूरी को राजनीति की धर्म से स्वतंत्रता के रूप में न कि अवश्यमेव इसके प्रतिकूल देखना होगा। इसका तात्पर्य है कि राज्य के क्रियाकलाप, राजनीतिक नीति निर्यात तथा नीति प्राथमिकताएँ धर्म की दखलन्दाजी से स्वतंत्र है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि राजनीति और राज्य कार्य को धार्मिक सुधार की आवश्यकता से कुछ लेना देना नहीं है। एक तरफ़ पृथकीकरण अभिनिश्चित करना होगा। यह दखलन्दाजी और परहेज दोनों की अनुमति देता है। दखलन्दाजी अन्तर्ग्रस्त मुद्दों के आधार पर सविवेक निर्धारित करनी होगी। अन्त में, पुनरावृत्ति के लिए, सभी पृथाएँ (अथवा विश्वास) भले ही धर्म द्वारा स्वीकृति प्राप्त हों, नामतः अस्पृश्यता, जातिभेद, बहु-विवाह, सार्वजनिक जीवन से महिलाओं का बहिष्कार आदि तत्काल अवैध घोषित करनी होंगी। ये निन्दात्मक रूप से संविधान की उस नियामक व्यवस्था के लिए अहितकारी हैं, जो स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान प्रबल जनप्रिय भागीदारी के माध्यम से अन्तर्ग्रस्त मूल्यों के सामंजस्य पर आधारित है। कई जो कम अहितकारी हैं जैसे मात्र ब्राह्मणों द्वारा जनेऊ धारण करना, महिलाओं को खेत में हल चलाने की अनुमति न देना आदि, आने वाले कुछ समय के लिए सहन की जा सकती हैं और लोगों को इन्हें छोड़ देने के लिए तैयार किया जा सकता है। यहाँ राज्य उदासीन भाव से नियमनवादी होगा। राज्य नियमनवादी इस अर्थ में होगा कि यह सम्पूर्ण भारतीय मानवता के दृष्टिकोण से कार्य करता है, न कि किसी एक धर्म अथवा समुदाय के दृष्टिकोण से। इसे किसी धर्म की सहायता नहीं करनी चाहिए अथवा उसे किसी प्रकार का लाभ नहीं पहुँचाना चाहिए। इसे सामान्यतः संविधान के व्यादेशों (injunctions) को लागू करना चाहिए, जिसने इस प्रयोजनार्थ यथार्थतः इसका सृजन किया था। इसकी उदासीनता सभी के लिए समान तरीके से समानता, अधिकारों और प्रतिष्ठा के क्षेत्र द्वारा सुनिश्चित की जानी चाहिए। भारतीय विधान ने नागरिकों के रूप में हमारे सहअस्तित्व के लिए एक सच्चे धर्म निरपेक्ष राज्य का गठन किया है (जैसा आरंभ में उल्लेख किया गया)।

धर्म निरपेक्षवाद निःसंदेह राज्य और राजनीति से धर्म के पृथकीकरण का सिद्धांत है; यह मात्र व्यावहारिक आवश्यकता नहीं है। अपितु, पृथकीकरण का एकमात्र सरल अर्थ नहीं है। इसे इसमें अन्तर्निहित संदर्भ और पृथाओं के संबंध में इसका अर्थ और वास्तविक स्वरूप देना होगा। प्रत्येक संदर्भ की अलग अपेक्षाएँ होती हैं और इनसे उनकी निजी बाध्यताएँ जन्म लेती हैं, जिन्हें अनदेखा नहीं किया जा सकता। हमारी इस चर्चा से यह स्पष्ट है कि धर्मनिरपेक्षता ऐसा कुछ अधिक नहीं है, जो भारतीय समाज के लिए बाहर का हो। अपितु यह अब इसकी आन्तरिक आवश्यकता बन चुका है। तथापि जो कुछ विदेशी है, वह इसकी पश्चिम से धर्मनिरपेक्षता का इतिहास और अर्थ तलाशने तथा उसे शेष विश्व को लागू होने वाले एकमात्र आदर्श के रूप में दर्शाने की विवेचनारहित प्रवृत्ति है। यह कुछ ऐसा है, जिससे हमें पूर्णरूपेण बचना चाहिए, क्योंकि इसके कुछ आलोचक ऐसा नहीं कर पाते हैं।

बोध प्रश्न 4

नोट : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर के सुझावों के लिए इकाई का अंत देखें।

1) राज्य द्वारा कतिपय मामलों में जिन्हें धार्मिक माना जाता है, दखल देने की क्या आवश्यकता है?

.....
.....
.....
.....
.....
.....

2) धर्मनिरपेक्षता का भारतीय स्वरूप क्या होना चाहिए?

.....
.....
.....
.....
.....
.....

3) भारत में 'पृथकीकरण' का सिद्धांत क्या होना चाहिए?

.....
.....
.....
.....
.....
.....

29.6 सारांश

इस इकाई में आपने भारत के विशेष संदर्भ में धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा के विषय में पढ़ा है। धर्मनिरपेक्षता के पश्चिमी संदर्भ – राजनीति और धर्म के बीच एक सख्त दीवार- की व्याख्या की गई है और यह इंगित किया गया है कि किस प्रकार से पश्चिमी अवधारणा भारतीय परिप्रेक्ष्य में अव्यवहारिक है। इकाई ने भारत में धर्मनिरपेक्षता की आवश्यकता के ऐतिहासिक समाजशास्त्र का परीक्षण किया है। इसने भारत के लिये एक व्यवहारिक धर्मनिरपेक्षता की चर्चा की है। यह आशा की जाती है कि अब आप धर्मनिरपेक्षता, जो कि

निश्चित रूप से एक जटिल अवधारणा है, के विभिन्न रंगों (nuances) को बेहतर ढंग से समझ सकेंगे।

वंचित और सकारात्मक
कार्य

29.7 कुछ उपयोगी संदर्भ

- 1) भारत में धर्मनिरपेक्षता पर उत्कृष्ट वर्णन के लिए देखें : डोनाल्ड ई. स्मिथ, *इंडिया एज ए सेक्यूलर स्टेट* (प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, 1963)। इसे भी देखें, वी.पी. लूथरा, *द कॉन्सेप्ट ऑफ सेक्यूलरिज़्म एण्ड इंडिया*, (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कलकत्ता, 1964)
- 2) उनके लिए जो धर्मनिरपेक्षता के दावों अथवा “आडम्बरों” को नकार देते हैं, अन्य के साथ देखें :
 - i) आशीष नंदी, “ए एण्टी-सैक्यूलरिस्ट मैनीफेस्टो” सेमिनार, 314, अक्टूबर 1985;
 - ii) टी.एन. मदान, “सैक्यूलरिज़्म इन इट्स प्लेस” जर्नल ऑफ एशियन स्टडिज़, 46(4) 1987;
 - iii) पार्थो चटर्जी, “सैक्यूलरिज़्म ऑर टोलेरैन्स”, *ईपीडब्ल्यू*, जून 1994।तीनों रचनाएँ राजीव भार्गव (संपा), *सेक्यूलरिज़्म एण्ड इट्स क्रिटिक्स* (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1998) में मौजूद हैं।
- 3) धर्मनिरपेक्षता की इन आलोचनाओं को नकारने के लिए देखें :
 - i) थॉमस पैन्थम, “इण्डियन सैक्यूलरिज़्म एण्ड इट्स क्रिटिक्स : सॉम रिफ्लेक्शन्स”, *द रिव्यू ऑफ पॉलिटिक्स*, सॉमर 1997; एण्ड
 - ii) अचिन वनाइक, चैप्टर 4- “कम्यूनलिज़्म, हिन्दुत्व, एण्ड एण्टी-सैक्यूलरिस्ट्स” इन *हिज़ कम्यूनलिज़्म कॉन्टेस्टिड*, (विस्तार पब्लिकेशन्स, न्यू दिल्ली, 1997)
- 4) धर्मनिरपेक्षता के प्रबल पक्ष में देखें :
 - i) राजीव भार्गव, “गिविंग सैक्यूलरिज़्म इट्स ड्यू” *ईपीडब्ल्यू*, 9 जुलाई 1994
 - ii) राजीव भार्गव, “ह्याट इज़ सैक्यूलरिज़्म फॉर?”
 - iii) अमर्त्य सेन, “सैक्यूलरिज़्म एण्ड इट्स डिस्कॉन्टेण्ट्स”।
- 5) अन्तिम दो राजीव भार्गव, (संपा) *सैक्यूलरिज़्म एण्ड इट्स क्रिटिक्स* (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू दिल्ली, 1998) में प्रकाशित हैं।
- 6) उन जटिल प्रश्नों और कठिनाइयों जो पृथकीकरण की धारणा का अर्थ आशय स्पष्ट करने में प्रस्तुत हुई हों, के लिए देखें :

माइकल सेंडल, “रिलीजियस लिबर्टी : फ्रीडम ऑफ चॉइस एंड फ्रीडम ऑफ कौंशस” यह निबंध धर्मनिरपेक्षता पर परियोजना बनाने में एक स्वतंत्र मुद्दे के रूप में अन्तरात्मा के महत्त्व को समझने में भी उपयोगी है।

दो विभिन्न पथों, जिनके माध्यम से धर्मनिरपेक्षता पाश्चात्य समाजों में प्रवर्तित हुई, के लिए देखें :

चार्ल्स टेलर, “मोड्स ऑफ सेक्यूलराइजेशन”, राजीव भार्गव (मुद्रण) *सेक्यूलरिज़्म एण्ड इट्स क्रिटिक्स* (यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1998) में दोनों मिलेंगे।

29.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

- 1) देखें भाग 29.3
- 2) देखें भाग 29.1 और 29.3

बोध प्रश्न 2

- 1) देखें भाग 29.4

बोध प्रश्न 3

- 1) देखें भाग 29.5
- 2) देखें भाग 29.5

बोध प्रश्न 4

- 1) देखें भाग 29.5
- 2) देखें उप-भाग 29.5.2 और 29.5.3
- 3) देखें उप-भाग 29.5.4